ISSN 2319-5339 IIS Univ.J.A. Vol.10 (1), 309-12 (2021)

हिन्दी सिनेमा और स्त्री सरोकार

उमेश कुमार

सारांश

स्वामी विवेकानन्द, राजाराम मोहन राय, ज्योतिबा फुले, सावित्री बाई फुले, महात्मा गांधी, डॉ. अम्बेडकर और अन्य अनेक समाज सुधारकों ने महिला समानता पर जोर दिया। महिला समानता के प्रयासों को असली गति स्वतंत्रता के बाद मिली। महिलाओं की साक्षरता पर बल दिया गया। महिलाओं के प्रति भेदभाव और अन्याय पर रोकथाम के लिए कई कानून बनाए गये। इन प्रयासों से महिलाओं में आत्मविश्वास जागृत हुआ। उनमें अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता पैदा हुई। उनके लिए रोजगार के अवसर बढ़ाए गए जिसके परिणामस्वरूप उनमें आर्थिक स्वावलम्बन का भाव पैदा हुआ। सरकार के साथ-साथ बड़ी संख्या में स्वयंसेवी संगठनों, महिला मंडलों, कुछ अन्तरराष्ट्रीय एजेंसियों, सक्रिय लोगों और सिनेमा ने महिला समानता पर जोर दिया।

बीज शब्द : आत्मविश्वास; महिला; समाज; समानता; साक्षरता।

स्वामी विवेकानन्द, राजाराम मोहन राय, ज्योतिबा फुले, सावित्री बाई फुले, महात्मा गांधी, डॉ. अम्बेडकर और अन्य अनेक समाज सुधारकों ने महिला समानता पर जोर दिया। महिला समानता के प्रयासों को असली गति स्वतंत्रता के बाद मिली। महिलाओं की साक्षरता पर बल दिया गया। महिलाओं के प्रति भेदभाव और अन्याय पर रोकथाम के लिए कई कानून बनाए गये। इन प्रयासों से महिलाओं में आत्म विश्वास जागृत हुआ। उनमें अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता पैदा हुई। उनके लिए रोजगार के अवसर बढ़ाए गए जिसके परिणामस्वरूप उनमें आर्थिक स्वावलम्बन का भाव पैदा हुआ। सरकार के साथ-साथ बड़ी संख्या में स्वयंसेवी संगठनों, महिला मंडलों, कुछ अन्तरराष्ट्रीय एजेंसियों, सक्रिय लोगों और सिनेमा ने महिला समानता पर जोर दिया। पहली सवाक् फिल्म आलम आरा (1931) के दौरान फिल्में पारसी नाटकों से प्रभावित थीं। जो नाटक पारसी रंगमंच में मशहूर थे उन पर ही फिल्में बनाने का चलन था। फिल्मों की कथायें भी उसी प्रकार की ऐतिहासिक पौराणिक और रूमानी प्रकार की होती थीं। इनका आदर्श सैयद आगा हसन अमानत के नाटक 'इन्द्रसभा' था। हिन्दी सिनेमा की कथाओं में धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगा। फिल्मकारों ने सामाजिक प्रश्नों को अधिक गंभीरता से उठाना शुरू कर दिया था। 1934 में समाज की भूल फिल्म बनी थी। इसमें विधवा के पुनर्विवाह के अधिकार का समर्थन था। इसमें दहेज और संपत्ति हेतु पारिवारिक संघर्ष को दिखाया गया है।

स्वतंत्रता के दस वर्ष बाद बनी फिल्म मदर इंड्या (1957) को स्त्री जागृति का उदाहरण माना जा सकता है। इसमें एक किसान स्त्री के संघर्ष को भारतीय स्त्री का प्रतीकात्मक संघर्ष बनाकर दिखाया गया है। यह हर प्रकार के उत्पीड़न का बहादुरी से सामना करती है। वह अपने परिवार को ही नहीं पालती बल्कि अपने गांव के विकास के लिए भी प्रयास करती है। इस विकास के लिए वह अपने पुत्र को भी गोली मारने से नहीं चूकती। इसमें अपने दौर का आशावाद भी झलकता है। हिंदी सिनेमा के फिल्मकारों ने स्त्रियों से संबंधित सामाजिक सवालों को भिन्न नजरिये से दिखाने का भी प्रयास किया है। इस दौर में वेश्या, विधवा, बेमेल विवाह और बाल विवाह जैसे कई सामाजिक सवालों पर जागरूक फिल्में बनीं। साधना (1958), पाकीजा (1972) और अदालत (1976) आदि फिल्मों के माध्यम से फिल्मकारों ने यह दिखाने का प्रयास किया कि वेश्या भी इंसान है। यहाँ तक कि सत्यकाम

(1969) और पाकीजा (1972) फिल्म में ये वेश्याएं विवाह भी करती हैं। इसी प्रकार शारदा (1973) में बेमेल विवाह का प्रश्न उठाया गया। प्रेमरोग (1982) में विधवा पुनर्विवाह का प्रश्न उठाया गया है। इसी तरह धूल का फूल (1959), आसरा (1966) और हरे कांच की चूड़ियां (1967) आदि फिल्मों में बिना विवाह के मां का दर्जा पाने वाली स्त्री के जीवन के संघर्ष को दिखाया गया है। बीसवीं सदी और इक्कीसवीं सदी में ऐसे सामाजिक सवालों के प्रति फिल्मकारों के नजरिये भी बदले हैं। धूल का फूल (1959) की मां अपने बच्चे को समाज के सामने नहीं ला पाती है लेकिन क्या कहना (2000) की मां न केवल अपने बच्चे को समाज के सामने लाती बल्कि उस आदमी से विवाह करने से भी मना कर देती है जो उस बच्चे का पिता होता है लेकिन जिसने बच्चे की मां से विवाह से पूर्व में मना कर दिया था।

शेखर कपूर की फिल्म बैंडिट क्वीन (1994) एक वास्तविक चरित्र फूलन देवी पर आधारित फिल्म है। फूलन को ग्यारह साल की उम्र में अपने से तिगुने उम्र के पति द्वारा किए गए बलात्कार का सामना करना पड़ता है। बाद में गांव की उच्च जाति के लोगों के द्वारा उसे गांव में नंगा करके घुमाया जाता है और उसके साथ सामूहिक बलात्कार किया जाता है। फूलन को गांव में जगह नहीं मिलती उसे डाकुओं की टोली में शरण लेने पर मजबूर होना पड़ता है। वहीं उसे जीवन में प्यार भी प्राप्त होता है। फूलन अपने पर अत्याचार करने वालों से प्रतिशोध लेती है। वह शर्त सहित समर्पण कर देती है। फिल्म यहीं समाप्त हो जाती है। यथार्थ में फूलन जेल से छूट जाती है। दो-दो बार संसद सदस्य रहती है परन्तु अन्त उसका झकझोरने वाला होता है। दिल्ली जैसे शहर में संसद भवन के नजदीक ही उसकी दिन दहाड़े क्रूरतापूर्वक हत्या कर दी जाती है। फूलन को जीवन भर हिंसा झेलनी पड़ी। दीपा मेहता ने स्त्री जीवन को केन्द्र में रखकर फायर (1998) फिल्म बनाई। इसमें उन्होंने शहरी मध्यवर्गीय जीवन के कथित नैतिक स्वरूप को चुनौती देने की हिम्मत दिखाई थी। इसमें स्त्री परिवार ओर विवाह नामक संस्था से स्वतंत्र होकर एक स्वतंत्र जीवन जीने का प्रयास करती है। इसमें दो शादीशुदा स्त्रियों के बीच शारीरिक सम्बन्धों को कथा का केन्द्र बनाया गया है। इसमें स्त्रियां त्याग, पतिव्रत और सेवा जैसे मूल्यों को ताक पर रख देती हैं और यौन इच्छाओं के प्रति अपराध बोध से पीड़ित नहीं होतीं। लेकिन ऐसी स्त्रियों के लिए पति के घर के द्वार सदा के लिए बंद हो जाते हैं। इसमें स्त्री, पुरूष की दासी बनकर जीवन बिताना नहीं चाहती क्योंकि उसे अपनी स्वतंत्रता का अहसास है। वह अपनी स्वतंत्रता और अधिकारों हेतु संघर्षशील है।

राजकुमार संतोषी की फिल्म लज्जा (2001) कई सवाल उठाती है। इसमें कुल चार स्त्रियों की कहानी है। सारी स्त्रियाँ पुरूषों के समाज में अलग-अलग प्रकार से प्रताड़ित होती हैं, उन्हें अनेक बार सीता की तरह उसी अग्नि परीक्षा से गुजरना पड़ता है। चारों स्त्री पात्रों का नामकरण सीता के नाम पर होना फिल्म के अर्थ को मिथक रूप देता है। वैदेही का अपने पति की इच्छाओं के सामने नहीं झुकना, मैथिली का दहेज के दानवों के सामने नहीं झुकना, जानकी का पुरूषों द्वारा थोपित सामाजिक मर्यादाओं को स्वीकार नहीं करना और रामदुलारी द्वारा ग्र. ामीण क्षेत्र में गरीब स्त्रियों के लिए साक्षरता को बढ़ावा देना आधुनिक नारी चेतना के उदाहरण हैं। लेकिन समाज द्वारा निर्मित रास्ते पर नहीं चलना और उसका विरोध करना इनके लिए खतरा साबित होता है। इसकी कीमत इनको चुकानी पड़ती है। वैदेही को अपने ही पति से अपनी जान बचाने हेतु परेशानी उठानी पड़ती है। मैथिली को दहेज के दानवों का सामना करने की कीमत अनिश्चित भविष्य के रूप में चुकानी पड़ती है। जानकी का समाज में स्त्रियों की स्थिति को लेकर सवाल करने की कीमत अपने गर्भस्थ शिशु की हत्या के रूप में चुकानी पड़ती है। रामदुलारी के बेटे का एक उच्च जाति की लड़की से प्रेम करना पाप बन जाता है और उसका प्रतिरोध लेने के लिए रामदुलारी के साथ बलात्कार कर उसे जीवित जला दिया जाता है। लेकिन यह फिल्म दिखाती है कि आधुनिक स्त्री झुकेगी नहीं। वह अपना धर्म अब संघर्ष करना समझती है। मदर इंडिया का आशावाद इक्कीसवीं सदी में बनी मधुर भंडारकर की चांदनी बार (2001) में दिखाई नहीं देता है। चांदनी बार की नायिका मुमताज दंगों की शिकार होकर मुंबई में आकर बस जाती है। वह मेहनत करके आदर की जिंदगी गुजारना चाहती है लेकिन उसे जीविकोपार्जन के लिए बार में नाचने वाली और शराब परोसने वाली का काम करने के लिए विवश होना पड़ता है। घर में वह अपने ही मामा के शोषण का शिकार बनती है। जिंदगी गुजारने के लिए वह एक बदमाश से विवाह करने को विवश होती हैं जो पुलिस के साथ फर्जी मुठभेड़ में मारा जाता है। इसके बाद भी वह अपने दोनों बच्चों को

सभ्य सामाजिक नागरिक बनाने का प्रयास करती है। वह आशा रखती है कि एक दिन उसका बेटा पढ़-लिखकर उसे यहाँ से बाहर निकालेगा। लेकिन युवा बेटे को पुलिस इसलिए पकड़ लेती है क्योंकि वह अपराधी युवकों के साथ देखा गया था। बाद में पुलिस को यह पता चलने पर कि वह बार में नाचने वाली और पुलिस के हाथों मारे गये गुंडे का बेटा है तो निरपराध होते हुए भी उसे छोड़ने से मना कर देती है। बेटा जेल में फैले दुर्व्यवहार का शिकार होता है। बेटे की जमानत के पैसे की खातिर मां को अपना शरीर बेचना पड़ता है और जवान बेटी भी उसी नरक में जाने का मजबूर हो जाती है। जिसमें मां अपनी बेटी को बचाना चाहती थी। अपने साथ हुए दुर्व्यवहार का बदला बेटा बाहर आकर लेता है और उन युवकों की हत्या कर देता है जिन्होंने जेल में उसके साथ दुर्व्यवहार किया था। इस प्रकार एक मां की आशा सदैव-सदैव के लिए समाप्त हो जाती है। न तो वह उस नरक से निकल पाती है और न ही उसके दोनों बच्चे। चांदनी बार की सीमा यह है कि वहां भविष्य धूमिल है। ऐसी धूमिलता लज्जा में नहीं है। लज्जा में स्त्रियों के संघर्ष की आशापूर्ण समाप्ति एक उदारवादी पूँजीवादी समाज में दिखाई गई है। फिल्म स्वयं अपने ही रचे यथार्थ के खिलाफ खड़ी हो जाती है। इस प्रकार लज्जा की आशा और चांदनी बार की निराशा एक तरह के यथास्थिति में परिणत हो जाती है। अनवर जमाल की स्वराज : दि लिटिल रिपब्लिक (2002) फिल्म तमिलनाडु की एक यथार्थ घटना पर आधारित है। जिसमें वहाँ के एक गांव की स्त्रियों ने सूखे की पीड़ा झेलते हुए अपने गांव को बगैर बाहरी सहायता के पानी के संकट से उबारा था। इस यथार्थ घटना को अनवर जमाल ने राजस्थान की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया है। तमिलनाडु की यह यथार्थ कहानी राजस्थान की पृष्ठभूमि में भी इतनी ही यथार्थ लगती है। राजस्थान का एक गांव जहाँ पीने तक का पानी नहीं है। पानी के टैंकर गांव में पानी लाते हैं। मुफ्त में पानी बंटने के लिए आता है, लेकिन यह भी भ्रष्टाचार का माध्यम हो जाता है। पानी की आपूर्ति लगातार नहीं होती और एक-एक बाल्टी पानी के लिए पैसे देने को मजबूर होना पड़ता है। यूँ तो गांव में पंचायत है परन्तु उस पर बलशाली सवर्णों का अधिकार है। इस अधिकार को ठाकुर साहब (राजेंद्र गुप्ता) के माध्यम से दिखाया गया है। पंचायत गांव की आम भावना की कद्र नहीं करती बल्कि ठाकुर की भावना की अभिव्यक्ति करती है। पंचायत में शामिल स्त्री प्रतिनिधि भी सवर्णों का विरोध नहीं कर पाती। यथार्थ में यही स्वराज : दि लिटिल रिपब्लिक की कथा है।

इन स्त्रियों के जीवन के भयावह नरक के लिए कौन जिम्मेदार हैं ? क्या स्त्रियों को इस शारीरिक और मानसिक शोषण से मुक्ति मिल सकेगी ? यही सबसे बड़ा प्रश्न है और इसका उत्तर यही है कि स्त्रियों को भी घर, परिवार और समाज में उसी प्रकार की स्वतंत्रता प्राप्त हो जिस स्वतंत्रता की प्राप्ति पुरूष अपने लिए करता है। जो स्त्रियों की तुलना में सभी वर्ग के पुरूषों को अधिक प्राप्त है।

यह प्रशंसा के योग्य है कि हिन्दी सिनेमा ने स्त्री के शोषण और सबलीकरण के मुद्दों को अपनी फिल्मों का विषय चुना। फिल्मकारों ने अपने दौर के सवालों की ओर ध्यान दिया। लेकिन अधिकांश फिल्मों में इन प्रश्नों को जितनी गंभीरता से उठाना चाहिए था, नहीं उठाया गया है। सिनेमा में महिलाओं में आत्मविश्वास तथा स्वावलंबन का भाव जागृत करने तथा पुरूषों की सोच में परिवर्तन लाने पर जोर दिया जाना चाहिए।

सहायक फिल्में

- आलम-आरा (1931)
- मदर इंडिया (1957)
- साधना (1958)
- धूल का फूल (1959)
- आसरा (1966)
- हरे कांच की चूड़ियां (1967)
- सत्यकाम (1969)
- पाकीजा (1972)

- शारदा (1973)
- अदालत (1976)
- प्रेमरोग (1982)
- बैंडिट क्वीन (1994)
- फायर (1998)
- क्या कहना (2000)
- लज्जा (2001)
- चांदनी बार (2001)
- स्वराज : दि लिटिल रिपब्लिक (2002)

सहायक ग्रंथ सूची

(संपादक) प्रजापति, महेन्द्र, (2014), हिन्दी सिनेमा : बिम्ब–प्रतिबिम्ब, शिल्पायन पब्लिशर्स एण्डडिस्ट्रीब्यूटर्स।

(संपादक) प्रसाद, कमला, प्रकाश, स्वयं, शर्मा, राजेन्द्र, अग्रवाल, प्रहलाद, (2009), हिंदी सिनेमा : बीसवीं से इक्कीसवीं सदी तक 1931–2009, साहित्य भंडार।

कुमार, अरूण, (2017), श्याम बेनेगल : भारतीय संवेदनाओं और अधिकारों का सिनेमा, साहित्यागार।

सहगल, ज़ोहरा, (अनुवाद) पाठक, दीपा, (2013), करीब से : मंच और फिल्मी पर्दे से जुड़ी यादें (आत्मकथा), राजकमल प्रकाशन।

चौकसे, जयप्रकाश, (2010), राजकपूर : सृजन प्रक्रिया, राजकमल प्रकाशन।

भारद्वाज, विनोद, (2017), सिनेमा : कल, आज, कल, वाणी प्रकाशन।

त्रिपाठी, सत्यदेव, (2013), समकालीन फिल्मों के आईने में समाज, शिल्पायन।

पारख, जवरीमल्ल, (2019), लोकप्रिय सिनेमा और सामाजिक यथार्थ, हिन्दी बुक सैन्टर।

---, (2006), हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र, ग्रंथ शिल्पी (इंडिया)।

श्रीवास्तव, संजीव, (2014), समय, सिनेमा और इतिहास, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार।

(संकलन और संपादन) जयसिंह, (2013), भारतीय सिनेमा का सफरनामा, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार।